

रामायण कालीन युग में आश्रम व्यवस्था

डॉ. बृजेश कुमार सोनकर

असिस्टेंट प्रोफेसर

संस्कृत तथा प्राकृत भाषा विभाग

लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ

शोधसार

रामायण काल में आश्रम व्यवस्था समाज के विभिन्न पहलुओं को संतुलित करने के लिए बनाई गई थी, जिसमें व्यक्ति के जीवन के चार प्रमुख चरण शामिल थे। पहले चरण में, ब्रह्मचर्य आश्रम में विद्यार्थी शिक्षा प्राप्त करते थे। दूसरे चरण में, गृहस्थ आश्रम में व्यक्ति परिवार और समाज की जिम्मेदारियाँ निभाता था। तीसरे चरण में, वानप्रस्थ आश्रम में व्यक्ति तपस्या और साधना के लिए परिवार की जिम्मेदारियों से मुक्त हो जाता था। अंतिम चरण, संन्यास आश्रम, में व्यक्ति भौतिक संसार से दूर होकर आत्म-साक्षात्कार और मोक्ष की ओर अग्रसर होता था। इन आश्रमों का उद्देश्य व्यक्ति को आत्मविकास और समाज की सेवा के लिए तैयार करना था। आश्रम व्यवस्था का सबसे बड़ा योगदान शिक्षा और संस्कारों के प्रसार में था। रामायण में गुरुकुलों और आश्रमों का उल्लेख है जहाँ राजा दशरथ के बेटों का पालन-पोषण और शिक्षा दी जाती थी। गुरु वशिष्ठ और अन्य गुरुओं ने राम और उनके भाईयों को नैतिकता, धर्म और शास्त्रों की शिक्षा दी। रामायण में रघुकुल धर्म, सत्य, और न्याय के सिद्धांतों का अनुसरण प्रमुख विषयों में है। आश्रम व्यवस्था के माध्यम से व्यक्ति को सही और गलत का भेद समझाया जाता था। इसके द्वारा व्यक्ति को एक अच्छा नागरिक और धर्मपरायण व्यक्ति बनने की प्रेरणा मिलती थी। वानप्रस्थ और संन्यास आश्रम में व्यक्ति आत्मसाक्षात्कार, ध्यान, और साधना में संलग्न होता था। राम के वनवास के दौरान उन्होंने जीवन के गंभीर पहलुओं का गहन चिंतन किया और आदर्श प्रस्तुत किए। आश्रम व्यवस्था के माध्यम से तपस्वियों और संतों का मार्गदर्शन समाज के लिए आदर्श बनता था। रामायण काल में आश्रम व्यवस्था का समाज से गहरा संबंध था। आश्रमों का उद्देश्य न केवल धार्मिक जीवन की स्थापना करना था, बल्कि समाज की सेवा भी करना था। प्रत्येक आश्रम के अपने सामाजिक दायित्व थे। यहाँ शिक्षा, अनुशासन और संस्कारों का आदान-प्रदान होता था। इसका उद्देश्य युवा पीढ़ी को धर्म, ज्ञान और नैतिकता से लैस करना था। यह समाज का प्रमुख आधार था, जहाँ परिवार की जिम्मेदारी निभाई जाती थी। राम के जीवन में उनके गृहस्थ जीवन के आदर्श, जैसे अपने माता-पिता की सेवा और राजा की जिम्मेदारी निभाना, सामाजिक आदर्श प्रस्तुत करते थे। इन आश्रमों का उद्देश्य समाज में संतुलन बनाए रखना और आत्मसाक्षात्कार के माध्यम से समाज के लिए आदर्श प्रस्तुत करना था। यह आश्रम समाज से कुछ समय के लिए पृथक रहने के बाद, समाज के लिए एक सशक्त मार्गदर्शक बनते थे।

मुख्य शब्द:- वानप्रस्थ, रामायण, ब्रह्मचर्याश्रम, आश्रम, गृहस्थाश्रम, वनवासी, आदिकवि।

प्रस्तावना:- प्राचीन आर्य-ऋषियों के अनुसार मानव-जीवन अनवरत आत्म-शिक्षण एवं आत्म-अनुशासन का समय था। इस शिक्षण-काल को उन्होंने श्रद्धम के नाम से कई भागों में बाँट दिया था। इन्हीं पर मनुष्य के सांसारिक जीवन का ढांचा अवस्थित रहता था। प्राचीन ग्रन्थों से कुछ विद्वानों ने ऐसे उद्घरण खोज निकालने की चेष्टा की है, जिनसे आश्रमों की संख्या मूलतः तीन सिद्ध होती हैं,¹ किंतु

रामायण के समय में आश्रमों की संख्या निश्चित रूप से चार बन चुकी थी (२।१०००।६२), यथा (१) विद्यार्थी के लिए ब्रह्मचर्याश्रम, (२) विवाहितों के लिए गृहस्थाश्रम, (३) अर्थोपार्जन से विरत वनवासी तपस्वी के लिए वानप्रस्थाश्रम और (४) संसार- त्यागी वैरागी के लिए संन्यासाश्रम।

¹ पी० एम० मोदी 'डेवलपमेंट आफ द सिस्टम आफ आश्रमाज' (सप्तम श्रओरिएंटल कान्फ्रेंस का विवरण, १६३३)

प्रत्येक द्विज से यह अपेक्षा की जाती थी कि वह अपने जीवन को इस आश्रम-व्यवस्था के अनुसार संचालित करे। प्रत्येक आथम जीवन का एक विभाग माना गया था, जिसमें एक निर्धारित समय तक व्यक्ति अपनेको प्रशिक्षित करता और आगामी आश्रम के लिए तैयार करता था। रामायण के अध्ययन से पता चलता है कि आश्रम-व्यवस्था का अनुसरण प्रायः उपर्युक्त क्रम से ही किया जाता था और उसका अतिक्रमण लोक-निन्दित था। राम के वनवास की आलोचना करते हुए भरत ने कहा था कि उनकी-सी आयु और पद के व्यक्ति के लिए गृहस्थाश्रम त्यागकर वानप्रस्थ-जीवन स्वीकार करना असामयिक और अनुपयुक्त है।²

उपनयन-संस्कार के बाद ब्रह्मचर्याश्रम आरम्भ होता था। इसमें विद्यार्थी ब्रह्मचारी रहकर कठोर एवं अनुशासनमय जीवन व्यतीत करता था। गुरु की सेवा और शास्त्रों का अध्ययन उसके दो प्रमुख कर्तव्य थे। अगस्त्य, भरद्वाज, वाल्मीकि आदि ऋषि-मुनियों के आश्रमों में असख्य विद्यार्थी आकर अपने कुलपति की अधी- नता में शिष्य-वृत्ति से रहते थे। शिक्षा-क्रम की समाप्ति पर छात्र का समावर्तन- संस्कार होता था, जो इस ग्रथम की समाप्ति का सूचक था, और तब वह 'स्नातक' कहलाता था। रामायण में तीन प्रकार के स्नातकों का उल्लेख है- 'विद्या-स्नातक' (२।८२।११), 'व्रत-स्नातक' (५।२१।१७) और 'विद्या-व्रत-स्नातक' (२।१।२०)। विद्या-स्नातक उसे कहते थे, जो अपना अध्ययन-क्रम समाप्त कर चुका है, पर ब्रह्मचारी के लिए नियत व्रत-नियमादि जिसके पूरे नहीं हुए हैं। व्रत-स्नातक वह था, जिसने व्रतों का पालन कर लिया है, पर जिसका अध्ययन समाप्त नहीं हुआ है। जिसके व्रत-नियमादि और अध्ययन दोनों संपूर्ण हो चुके हैं, वह विद्या-व्रत-स्नातक

कहलाता था। राम और रावण दोनों इस अंतिम श्रेणी के स्नातक थे (२।१।२०।६।६२।६०)।

ब्रह्मचर्याश्रम की समाप्ति पर युवक स्नातक विवाह करके गृहस्थाश्रम में प्रवेश करता था। इस आश्रम में पितृ ऋण, देव-ऋण और मनुष्य-ऋण को चुकाने के लिए गृहस्थ को श्राद्ध, यज्ञ और अतिथि सत्कार करने पड़ते थे।³ साथ-ही-साथ उसे अपने वयोवृद्ध गुरुजनों, पुत्र-कलत्र तथा परिवार के अन्य सदस्यों का भरण- पोषण करना पड़ता था। सभी धार्मिक क्रिया-कलाप और यज्ञ-यागादिक उसे अपनी पत्नी के साथ संपन्न करने पड़ते थे, जो इसीलिए 'धर्मपत्नी अथवा 'सहधर्मचारिणी' कहलाती थी।

चारों आश्रमों में गृहस्थाश्रम ही सर्वश्रेष्ठ था- **चतुर्णामाश्रमाणां हि नगार्हस्थ्यं श्रेष्ठमुत्तमम्** (२।१०६।२२); और स्वयं रामायण गृहस्थाश्रम का ही आदि-महाकाव्य है। उपनिषदों और आरण्यकों में यदि वानप्रस्थाश्रम का गौरव- गान है, तो रामायण गृहस्थाश्रम की महाप्रशस्ति है और इसीको आध्यात्मिक कल्याण का मुख्य साधन बताती है। समस्त हिंदू-धर्मशास्त्रों ने भी गृहस्थाथम का जो गुण-गान किया है, उसका कारण यह है कि गृहस्थ ही अन्य ग्रथमों की आधार-शिला है और वही समाज के कल्याण में प्रत्यक्ष योग देता है। वैयक्तिक और सामाजिक सभी प्रकार के उत्तरदायित्वों का निर्वाह करने में गृहस्थाश्रम ही सबसे अधिक सहायक है। कहते हैं, उपनिषदों और आरण्यकों ने लोक में जो वैराग्य की भावना प्रसारित की थी, उसीकी प्रतिक्रिया के रूप में वाल्मीकि ने रामायण की रचना कर गृहस्थ- धर्म को गौरवान्वित किया। 'आदर्श पिता, आदर्श माता, आदर्श भाई, आदर्श पति, आदर्श पत्नी आदि जितने आदर्शों को इस अनुपम महाकाव्य में आदि कवि की शब्द- तुलिका ने खींचा

² चतुर्णामाश्रमाणां हि गार्हस्थ्यं श्रेष्ठमुत्तमम्। श्रुद्धर्मज्ञ धर्मज्ञास्तं कथं त्यक्तुमर्हसि ॥ २।१०६।२२

³ ऋरणानि त्रोष्यपाकुर्वन् दुहदः साधु निर्वहन् ॥ २।१०६।२८, टीका देखिये।^q

है, वे सब गृह-धर्म के पट पर ही चित्रित किये गए हैं। इतना ही क्यों, राम-रावण का भयानक युद्ध भी इस काव्य का मुख्य उद्देश्य नहीं है; वह तो राम-जानकी-पति-पत्नी की परस्पर विशुद्ध प्रीति को पुष्ट करने का एक उपकरण-मात्र है।⁴

गृहस्थी की गाड़ी ढोते ढोते एक समय ऐसा आता है, जब उम्र की धूप में गृहस्थ वृद्ध हो जाता है- उसके बाल श्वेत हो जाते हैं, चेहरे पर झुर्रियां पड़ जाती हैं और सांसारिक कामों में निरंतर लगे रहने से उसका शरीर कृश और निर्बल हो जाता है। यही वह समय है, जब गृहस्थ को अर्थ और काम के सक्रिय उपार्जन से विरत हो जाना चाहिए तथा अपने पुत्र या उत्तराधिकारी को सारे अधिकार सौंप कर एकांत में शांतिपूर्ण जीवन व्यतीत करना चाहिए। तत्कालीन राजाओं में यह प्रथा थी कि राज्य को अपने वयस्क पुत्रों को सौंप कर वे वन में तपस्वी जीवन बिताने लगते थे। महाराज दशरथ ने अपनी राज्य-सभा को संबोधित करते हुए कहा था कि मैं बूढ़ा और अशक्त तथा राज्य के भारी जुए को सम्मानपूर्वक वहन करने में असमर्थ हो गया हूँ, इसलिए राम को राज्यासीन कर विश्राम करना चाहता हूँ (२।२।६-१०)। दशरथ यह स्पष्ट नहीं कहते कि राम को युवराज बनाकर मैं वानप्रस्थी बन जाऊंगा। किंतु वृत्र और अंशुमान्-जैसे अनेक राजाओं के आख्यानों से पता चलता है कि वे पुत्रों को राज्य सौंपकर वन चले गए थे। पुत्रों को राजपाट सौंपकर वनवासी बन जाने की प्रथा की ओर लक्ष्मण ने भी संकेत किया था।⁵ वानप्रस्थाश्रम में पत्नी या तो पुत्रों के संरक्षण में घर पर रहती अथवा पति के साथ वन-गमन करती थी। रामायण में उल्लिखित अधिकांश तपस्विगण अपनी पत्नियों के साहचर्य

में वैखानस-व्रतों का पालन करते थे। वानप्रस्थी गृहस्थ वन में संयम और त्याग का जीवन व्यतीत करता, सब प्राणियों के हित में रत रहता, भिक्षाटन और यज्ञों का अनुष्ठान करता तथा वेदों के स्वाध्याय में संलग्न रहता था। किसी वृक्ष के नीचे उसका आवास होता, इंद्रियों पर वह संयम रखता और अनायास प्राप्त होनेवाले फल-फूलों से अपना निर्वाह करता था।⁶ बुद्धि पर अज्ञान का पर्दा डालनेवाले शस्त्रों से उसे कोई प्रयोजन न रहता।⁷ उसके लिए 'देश-धर्म का तपोवन के अनुरूप कर्तव्यों का पालन ही वांछनीय था देशधर्मस्तु पूज्यताम् (३।६।२७)।

अंतिम आश्रम 'संन्यास' पर रामायण में विशेष प्रकाश नहीं डाला गया है। उसमें 'संन्यासी' शब्द का प्रयोग न होकर 'भिक्षु' और 'परिव्राजक' नाम आये हैं। रामायणकालीन परिव्राजक या संन्यासी का परिचय पाने के लिए हमें रावण का उस समय का वर्णन देखना चाहिए, जब वह इस रूप में सीता के संमुख उपस्थित हुआ था-

श्लक्ष्णकाषायसंवीतः शिखी छत्री उपानहो।

वामे चांसेऽवसज्याथ शुभे यष्टिकमण्डलू ॥ ३१४६१३

अर्थात् वह शरीर पर साफ-सुथरा गेरुए रंग का वस्त्र लपेटे हुए था, उसके मस्तक पर शिखा, हाथ में छाता और पैरों में जूते थे, तथा उसमें बायें कंधे पर डंडा रखकर उसमें कमंडलु लटका रखा था।

आर्य-ऋषियों द्वारा आयोजित यह आश्रम-व्यवस्था उनकी वर्ण-व्यवस्था की ही पूरक है। दोनों व्यवस्थाएं व्यक्ति और समाज के जीवन और उसके संगठन से संबंधित हैं, अंतर केवल दृष्टिकोण अथवा आग्रह का है। वर्ण-व्यवस्था मनुष्य को एक सामाजिक प्राणी के रूप में देखती है, उसके कर्तव्यों

⁴ बलदेव उपाध्याय 'श्रादिकवि वाल्मीकि', 'कल्याण संक्षिप्त वाल्मीकि-रामायणांक', पृ० १४

⁵ पूर्व राजाषवृत्या हि वनावसोऽभिधीयते। प्रजा निक्षिप्य पुत्रेषु पुत्रवत्परि-पालने ॥ २।२३।२६

⁶ हस्तादानो मुखादानो नियतो वृक्षमूलिकः। वानप्रस्थो भविष्यामि ... ॥ १।१३।३८

⁷ अग्निंसंयोगवद्भेतुः शस्त्रसंयोग उच्यते ॥ ३।६२३

और अधिकारों की उसके स्वभाव, उसकी प्रवृत्तियों और उसके मानसिक झुकाव के अनुसार-परिभाषा और व्याख्या करती है। ऐसा करते समय यह व्यवस्था उस समाज को भी दृष्टि में रखती है, जिसका वह एक सदस्य है। दूसरे शब्दों में, वर्ण-व्यवस्था समाज में रहनेवाले मनुष्य से संबद्ध है। दूसरी ओर, आश्रम-व्यवस्था मनुष्य को एक इकाई के रूप में देखती है और बताती है कि उसका आध्यात्मिक लक्ष्य क्या है, वह अपने जीवन को किस प्रकार अनुशासित, सुव्यवस्थित एवं धर्मानुकूल बनाये तथा इस लक्ष्य प्राप्ति के लिए क्या साधन अपेक्षित हैं।⁸

इसी वर्णाश्रम-व्यवस्था के आधार पर रामायणकालीन आर्य व्यक्ति और समाज की विरोधी मांगों में संघर्ष के स्थान पर सुंदर समन्वय स्थापित करने में समर्थ हुए थे। वाल्मीकि ने सर्वत्र व्यक्ति की अपेक्षा समाज को अधिक महत्त्व प्रदान किया; साथ ही वह, समाज-व्यवस्था को हानि पहुँचाये बिना, व्यक्ति के सर्वांगीण विकास के लिए सभी सुविधाएं देने को तैयार थे। राम का समग्र जीवन इस सिद्धांत से अनुप्राणित था कि जहां व्यापक या सामूहिक हितों की रक्षा का प्रश्न खड़ा हो, वहां संकुचित या निजी हितों की बलि दे देना श्रेयस्कर है। अपने परिवार में व्यक्तिगत स्वार्थों का संघर्ष उठने पर उन्होंने, कैकेयी को संतुष्ट करने के लिए, अपने राज्याधिकार को तिलांजलि दे दी, जिससे कौटुंबिक कलह के परिणामस्वरूप देश में अराजकता न फैल जाय। अपने जीवन में उन्हें जिन अनेकानेक जटिल परिस्थितियों का सामना करना पड़ा, उनको उन्होंने या तो पूरी तरह हल कर लिया या कम-से-कम अत्यधिक सरल तो अवश्य बना दिया और इसका श्रेय है उनकी सत्यवादिता को, उनकी

न्यायपरायणता को और दूसरों के हित-साधन के लिए उनके स्वार्थ-त्याग को।

रामायण में ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं, जिनमें दूसरों के उचित अधिकारों का सम्मान करना सामाजिक दृष्टि से नितान्त आवश्यक माना गया है और इस नियम का उल्लंघन करने वाला दंड का पात्र बना है। वाल्मीकि के सर्वप्रथम श्लोक⁹ से यह शिक्षा मिलती है कि प्रकृति के छोटे-से-छोटे प्राणी को भी अपने ढंग से हर्ष मनाने का अधिकार प्राप्त है और उसमें हस्तक्षेप करनेवाले हम कोई नहीं होते। अन्धमुनि के पुत्र की हत्या करने से दशरथ को पुत्र-शोक का भागी बनने का शाप मिला, क्योंकि राजा ने अंधमुनि को उनके सुखपूर्वक रहने के अधिकार से वंचित किया था। राम को अपनी ओर आकर्षित करने की घुष्टता कर शूर्पणखा ने सीता के वैवाहिक अधिकार को चुनौती दी और वाली ने मुग्रीव की पत्नी का उपभोग कर उनके स्वत्व को छीना। इन दोनों को उचित दंड देना शासक का कर्तव्य था। अंत में रावण ने दंडकारण्य में राम-सीता के सुखपूर्वक रहने के अधिकार को छीनकर अपने ही सर्वनाश को न्योता दिया। व्यक्तिगत अधिकारों की सुरक्षा समाज हित की दृष्टि से अनुपेक्षणीय है, इसका वाल्मीकि ने सर्वत्र उद्घोष किया है।

निष्कर्ष:

रामायण कालीन आश्रम व्यवस्था समाज और व्यक्ति के जीवन के महत्वपूर्ण पहलुओं को संतुलित करने के लिए एक सशक्त और सुव्यवस्थित मॉडल थी। यह व्यवस्था जीवन के चार प्रमुख आश्रमों—ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यास—के माध्यम से व्यक्ति को धर्म, नैतिकता और

⁸ पां० वा० काणे- 'हिस्ट्री आफ धर्मशास्त्र', जिल्द २, भाग १, पृ० ४२३ और पी० एच० वालावलकर 'हिंदू सोशल इंस्टीट्यूशन्स', पृ० २८

⁹ मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः । यत्क्रौंच मिथुनादेकमवधीः काममोहितम् ।। १।२।१५

सामाजिक जिम्मेदारी का पालन करने की दिशा में मार्गदर्शन करती थी।

रामायण में इस व्यवस्था के माध्यम से भगवान राम और उनके परिवार के सदस्यों ने आदर्श जीवन जीने की प्रेरणा दी। ब्रह्मचर्य आश्रम में शिक्षा और संस्कार, गृहस्थ आश्रम में सामाजिक और पारिवारिक जिम्मेदारी, वानप्रस्थ में आत्मसाक्षात्कार के लिए तपस्या, और सन्यास आश्रम में मोक्ष की ओर मार्गदर्शन ये सभी जीवन के विभिन्न चरणों में व्यक्ति को धर्म, समाज और आत्मनिर्भरता के प्रति जागरूक करते थे। इस आश्रम व्यवस्था ने न केवल व्यक्ति के जीवन को संतुलित और उद्देश्यपूर्ण बनाया, बल्कि समाज के लिए भी एक आदर्श प्रस्तुत किया। इसके माध्यम से व्यक्ति को

समाज में अपनी भूमिका को समझने और उसे निभाने का अवसर मिलता था। रामायण के आदर्शों के माध्यम से यह स्पष्ट होता है कि आश्रम व्यवस्था न केवल धार्मिक जीवन की ओर प्रवृत्त करती है, बल्कि सामाजिक, नैतिक और आध्यात्मिक दृष्टि से भी जीवन को उच्चतम स्तर तक पहुंचाने का कार्य करती थी।

अतः रामायण कालीन आश्रम व्यवस्था समाज के कल्याण और व्यक्ति के आत्मविकास के लिए एक गहरी, सशक्त और अद्वितीय प्रणाली थी।

Corresponding Author: Brijesh Kumar Sonkar

E-mail: sonkarjnu@gmail.com

Received: 11 January 2025; Accepted: 20 January, 2025. Available online: 30 January, 2025

Published by SAFE. (Society for Academic Facilitation and Extension)

This work is licensed under a Creative Commons Attribution-Noncommercial 4.0 International License

